इक्कीसवीं सदी और राष्ट्रीय सवाल

''राष्ट्रीय प्रश्न के बारे में सर्वहारा वर्ग की पार्टी का विश्व दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रवादी होता है, राष्ट्रवादी नहीं । क्रांतिकारी संघर्ष के दौरान वह प्रगतिशील राष्ट्रवाद का समर्थन करती है और प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद का विरोध करती है। इसे हमेशा अपने और पूंजीवादी राष्ट्रवाद के बीच स्पष्ट विभाजन -रेखा खींचनी चाहिये तथा उसके चंगुल में कभी नहीं फंसना चाहिये''(1963 की आम दिशा से)

लेनिन ने आज से 8-9 दशक पहले, साम्राज्यवाद के युग में राष्ट्रीय प्रश्न पर कम्युनिस्टों की नीति परिभाषित की थी। 1920 में, कौमिन्टर्न की दूसरी कांग्रेस ने उसे और सूत्रबद्ध किया। आज से चार दशक पहले साम्राज्यवाद के कमजोर पड़ने के चलते तब पुराने किस्म का उपनिवेशवाद समाप्त हो रहा था और उसका एक नया रूप सामने आ रहा था, तब माओ और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन की आम दिशा तय करते समय राष्ट्रीय प्रश्न को नये हिसाब से पुनः व्याख्यायित किया। 1963 की आम दिशा में राष्ट्रीय प्रश्न पर मूल बातें वही थीं जो लेनिन व कौमिंटर्न ने सूत्रबद्ध की थीं, लेकिन नयी स्थिति (समाजवाद एवं राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के चलते उपनिवेशों से साम्राज्यवादियों के पीछे हटने) के अनुरूप उन्होंने पुरानी थीसिस में कुछ जोड़-घटाव किया। तब से लेकर आज तक इन 40 वर्षों में दुनिया में बहुत से महत्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके हैं-समाजवादी खेमा विखंडित हुआ और समाजवादी देशों में पूंजीवादी पुनर्स्थापना हो गयी, पुराने उपनिवेशों में साम्राज्यवादियों का प्रत्यक्ष शासन समाप्त हो गया और इनमें से बहुत सारे राजनीतिक तौर पर आजाद मुल्क बने (अर्थात ये एक हद तक साम्राज्यवाद की गिरफ्त से बाहर निकले) इन नव-स्वाधीन देशों में एक हद तक पूंजीवादी विकास हुआ इत्यादि। ऐसे में यह निहायत जरूरी हो जाता है कि 21वीं सदी की नयी स्थितियों में कम्युनिस्ट राष्ट्रीय प्रश्न पर विचार विमर्श करें और अगर आवश्यक समझें तो उसे पुनः परिभाषित करें । प्रस्तुत लेख ऐसे विचार-विमर्श को प्रोत्साहित करने के लिये लिखा गया है ।

इस लेख में हम राष्ट्रीय आन्दोलन की परिघटना एवं उससे जुड़ी रणनीति (strategy) पर ही विचार-विमर्श करेंगे। इसके रणकौशलात्मक (tactical) पहलू पर उपयोगी विचार-विमर्श तब तक संभव नहीं है जब तक परिघटना की व्याख्या एवं उसकी रणनीति पर बहस किसी सही मुकाम पर न पहुंच जाय। दूसरा यह कि आम रणनीतिक योजना के तहत रणकौशल किसी देश-काल की विशिष्ट परिस्थितियों में तय किये जाते हैं और परिस्थिाति में घटने वाले परिवर्तनों के अनुरूप उन्हें बदलना होता है। इस कारण से भी रणकौशल में व्यवहारिक लचीलेपन की जरूरत इस बात की मांग करती है कि इसके बारे में कोई दीर्घकालिक निर्णय न लिये जायें। रणकौशल पर अनावश्यक टिप्पणी न करके, हम भी योजनावाद (schematism) की गलतियों से बचना चाहेंगे ।

लेनिन का निर्देश है कि राष्ट्रीय प्रश्न को एक अमूर्त एवं औपचारिक (abstract &formal) तरीके से नहीं समझा जाना चाहिये। उसे ठोस स्थितियों (concrete condition) में अवस्थित करके ही समझा जाना चाहिये। इसमें ऐतिहासिक-आर्थिक स्थितियों (historic -economic condition) की विशेष अहमियत है। हम लेनिन के निर्देश का पालन करते हुए यह तय करने की कोशिश करेंगे कि क्या यह नारा ''दुनिया के मजदूरो और उत्पीड़ित राष्ट्रो, एक हो जाओ !'' आज भी

लागू होता है? कि क्या आज भी पिछड़े एवं पराश्रित देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन का अन्तर्य बुर्जुआ जनवादी है? कि क्या आज भी राष्ट्रीय मुक्ति की धारा विश्व सर्वहारा समाजवादी क्रांति का अभिन्न अंग है?

21वीं सदी की विशिष्ट ऐतिहासिक-आर्थिक स्थितियों पर गौर करने के पहले हम संक्षेप में, राष्ट्रीय प्रश्न पर लेनिन और माओ की मूल थीसिस को दोहरायेंगे।

बीसवीं सदी में राष्ट्रीय प्रश्न

राष्ट्रीय प्रश्न के संदर्भ में विकासमान पूंजीवाद में दो प्रवृत्तियां होती हैं। पहली-राष्ट्रीयताओं के जीवन तथा राष्ट्रीयताओं के आन्दोलनों की जागृति, समस्त राष्ट्रीय उत्पीड़न के विरूद्ध संघर्ष तथा राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण। दूसरी - अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने के मेल-मिलाप एवं अन्तर्क्रियाओं का विकास, राष्ट्रीय सीमाओं का टूटना, सामान्यतः आर्थिक-जीवन,राजनीति,विज्ञान आदि की अन्तर्राष्ट्रीय एकता का निर्माण। ये दोनों ही प्रवृत्तियां पूंजीवाद का आम नियम हैं। पहली प्रवृत्ति पूंजीवाद की प्रारंभिक अवस्था में पाई जाती है, जबकि दूसरी उसकी परिपक्व अवस्था में। सामान्यतः दूसरी प्रवृत्ति पहली का निषेध करती है और समाजवाद के लिये आधार तैयार करती है।

लेकिन लेनिन ने समझाया कि साम्राज्यवाद के युग में ये समीकरण गड़बड़ा जाते हैं। साम्राज्यवाद के युग में देशों के बीच की अन्तर्क्रिया में वर्चस्व के लिये संघर्ष बहुत उच्च धरातल पर पहुंच जाता है, साम्राज्यवादी देशों द्वारा पिछड़े देशों का शोषण अमानवीय हदों तक पहुंच जाता है, ऐसे में उनका उत्पीड़न व लूट बहुत बढ़ जाती है। ऐसे में उत्पीड़ित देशों/राष्ट्रों के लोगों में राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष पैदा होते हैं । अर्थात यहां दूसरी प्रवृत्ति पहले का निषेध करने के बजाय उल्टे उसे बढ़ाती है। साम्राज्यवाद की अन्तर्राष्ट्रीय क्रियाऐं पिछड़े देशों में राष्ट्रवाद को जन्म देती हैं। यह साम्राज्यवाद की विशेषता है।

लेनिन ने अपने विश्लेषण से स्थापित किया कि दुनिया उत्पीड़ित एवं उत्पीड़क राष्ट्रों में बंटी हुई है। दूसरे इंटरनेशनल के लिए राष्ट्रीय प्रश्न यूरोप तक सीमित था। दूसरे इंटरनेशनल के नेता आयरलैंड, पोलैंड, हंगरी, फिनलैंड, सर्विया एवं अन्य यूरोपीय राष्ट्रीयताओं की मुक्ति की ही बातें करते थे। लेनिन ने इस प्रश्न के दायरे में एशिया अफ्रीका व लातिन अमेरिका के करोड़ों लोगों को समेटा। अर्थात् उन्होंने राष्ट्रीय प्रश्न को औपनिवेशिक प्रश्न से ज़ोड़ा। अब उपनिवेशों और पराश्रित राष्ट्रों के ''असभ्य''लोगों की राष्ट्रीय मुक्ति भी समाजवादियों की कार्य-सूची में आ गयी।

दूसरे इंटरनेशनल के नेता, राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को सांस्कृतिक स्वायत्तता तक सीमित करने के आदी थे, अर्थात् वे चाहते थे कि राजनीतिक सत्ता देश के शासक के हाथ में बने रहते हुए उत्पीड़ित राष्ट्रों के पास अपनी सांस्कृतिक संस्थाऐं हों। लेनिन ने इसे एक राजनैतिक प्रश्न में विस्तृत किया और स्थापित किया कि आत्मनिर्णय का अधिकार यदि स्वतंत्र राजनीतिक सत्ता स्थापित करने (भौगोलिक सीमाओं के बदलने) के अधिकार को समावेशित नहीं करता तो वह बेमानी है, और तब वह दरअसल कब्जेदारी की पैरोकारी और सामाजिक अंधराष्ट्रवाद है। उन्होंने स्थापित किया कि ''राष्ट्रों की बराबरी''की सारी अच्छी-अच्छी बातें तब तक ढोंग एवं धूर्तता हैं जब तक एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का उत्पीड़न करता रहेगा, कि आत्मनिर्णय के अधिकार के तहत अलग हो जाने का अधिकार दिये बगैर यह गुलामी समाप्त हो ही नहीं सकती है।

दूसरे इंटरनेशनल के समाजवादी यूरोप में सर्वहारा की मुक्ति की लड़ाई, समाजवाद के लिए लड़ाई का उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष से कोई संबंध नहीं

जोड़ते थे। लेनिन ने मार्क्स एवं एंगेल्स की बातों को दोहराते हुए स्थापित किया कि साम्राज्यवादी देशों का सर्वहारा अपने आप को तब तक मुक्त नहीं कर पायेगा जब तक वह खुद को उपनिवेशों के राष्ट्रीय क्रांतिकारी आन्दोलन के समर्थन में खड़ा नहीं करता। उन्होंने कहा यह समर्थन शब्दों, घोषणाओं तक सीमित नहीं रहना चाहिये कि यह प्रत्यक्ष व्यवहार में होना चाहिये, यानि कि एक समाजवादी को अपनी सरकार की रोक (ban) के खिलाफ शांतिकाल और युद्धकाल दोनों में उत्पीड़ित राष्ट्रों की मुक्ति के लिये प्रचार करना होगा। ऐसा करने पर साम्राज्यवादी देशों के सर्वहारा को अभूतपूर्व नैतिक एवं राजनीतिक बल मिलेगा, उसके संघर्ष को दुनियाभर के उत्पीड़ित शोषित लोगों का समर्थन मिलेगा और साम्राज्यवाद अलगाव में पड़ेगा।

कौमिटर्न की दूसरी कांग्रेस (1920) ने उपनिवेशों और पराश्रित देशों में राष्ट्रीय प्रश्न पर गहन विचार-विमर्श किया। मुद्दा यह था कि क्या पिछड़े देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों को बुर्जुआ जनवादी आन्दोलनों का समर्थन करना चाहिये। पिछड़े देशों के प्रतिनिधियों की आपत्ति को ठीक ठहराते हुए कौमिंटर्न ने तय किया कि 'बुर्जुआ-जनवादी आन्दोलन' के स्थान पर 'राष्ट्रीय-क्रांतिकारी आन्दोलन' शब्दावली इस्तेमाल की जाये। ऐसा इसलिए क्योंकि यह देखने में आ रहा है कि साम्राज्यवादी शोषक तथा औपनिवेशिक वर्गों के बीच कुछ सामीप्य स्थापित हुआ था, जिसके कारण अक्सर उत्पीड़ित देशों का बुर्जुआ वर्ग हालांकि राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन करता था, लेकिन उसकी साम्राज्यवादी बुर्जुआ वर्गों के साथ भी सहमति थी, यानि कि वह उसके साथ मिलकर क्रांतिकारी वर्गों एवं क्रांतिकारी आन्दोलनों के विरूद्ध था। ऐसी हालत में इस बुर्जुआ वर्ग के सुधारवादी राष्ट्रवाद के समर्थन से कम्युनिस्ट पार्टियों को बचने की जरूरत थी और साम्राज्यवाद के साथ इसके समझौतापरस्ती का पर्दाफाश करने की जरूरत थी। यह इन देशों के क्रांतिकारी आन्दोलन को क्रांतिकारी रास्ते पर ले जाने के लिये निहायत जरूरी था। 'राष्ट्रीय-क्रांतिकारी आन्दोलन' शब्दावली के प्रयोग से इन देशों के राष्ट्रीय प्रश्न के प्रति कम्युनिस्ट पार्टियों का रूख व कार्यभार ज्यादा सटीक ढंग से निरूपित होते थे।

मगर कौमिंटर्न की इसी कांग्रेस में लेनिन ने स्पष्ट किया कि अपने अंतर्य में पिछड़े देशों का राष्ट्रीय आन्दोलन बुर्जुआ-जनवादी आन्दोलन ही है। ऐसा इसलिये क्योंकि इन देशों की आबादी का अत्यधिक बड़ा हिस्सा (overwhelming mass of the population) किसान ही थे,जो कि बुर्जुआ-पूंजीवादी संबन्धों को अभिव्यक्त करते थे। ऐसी स्थिति में इन देशों का 'राष्ट्रीय क्रांतिकारी आन्दोलन' भी बुर्जुआ-जनवादी आन्दोलन ही हो सकता था। लेनिन की बात का निहितार्थ यह था कि अपने बुर्जुआ जनवादी अन्तर्य के बावजूद यह 'राष्ट्रीय क्रांतिकारी आन्दोलन' विश्व समाजवादी क्रांति का अभिन्न अंग है, क्योंकि यह साम्राज्यवाद को कमजोर करता है एवं 'राष्ट्रीय क्रांतिकारी आन्दोलन' विघटित करता है। स्तालिन के शब्दों में इसका 'हर कदम साम्राज्यवाद के लिये घन की मार' था।

1956 में सोवियत संघ में ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के हावी हो जाने पर अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में ढेर सारे अन्य मुद्दों के अलावा राष्ट्रीय सवाल पर भी विभ्रम फैला। ऐसी स्थिति में माओ व चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने 1963 में अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिए आम दिशा निरूपित की जिसमें ढेर सारे मुद्दों के अलावा राष्ट्रीय प्रश्न पर भी सुस्पष्ट अवस्थिति ली गयी । इस अवस्थिति की खास बात यह थी कि 1963 की आम दिशा' ने यह स्थापित किया कि केवल समाजवादी खेमे और साम्राज्यवादी खेमे के बीच का अन्तर्विरोध ही दुनिया में बुनियादी महत्व का अन्तर्विरोध नहीं है, कि अंतः साम्राज्यवादी अन्तर्विरोध एवं पूंजीवादी देशों में श्रम बनाम पूंजी के अन्तर्विरोध के अलावा दुनिया के पैमाने पर उत्पीड़ित राष्ट्रों एवं साम्राज्यवाद के बीच का अन्तर्विरोध भी बुनियादी महत्व का अन्तर्विरोध है। अर्थात् साम्राज्यवाद के खिलाफ उत्पीड़ित राष्ट्रों एवं उत्पीड़ित लोगों

के संघर्ष मानव इतिहास को गति दे रहे थे, और कम्युनिस्टों को इसके योगदान को अनदेखा करने के बजाय साम्राज्यवाद के विरूद्ध उत्पीड़ित राष्ट्रों एवं उत्पीड़ित लोगों के संघर्षों की भरपूर मदद करनी चाहिए। माओ ने कम्युनिस्ट आन्दोलन के पुराने नारे ''दुनिया के मजदूरो और उत्पीड़ित राष्ट्रो एक हो जाओ'' को पुनः स्थापित किया। वर्ग अन्तर्विरोधों को धूमिल करने के संशोधनवादी प्रयास के विरूद्ध उक्त वैचारिक संघर्ष के साथ-साथ माओ ने राष्ट्रीय प्रश्न का पुनः मूल्यांकन भी किया। उन्होंने पाया कि राष्ट्रीय आन्दोलन का वर्ग अन्तर्य लगभग वैसा ही बुर्जुआ-जनवादी है, जैसा लेनिन ने देखा था। राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्षों के लिये वर्ग लामबन्दी के संदर्भ में वे कहते *हैं ''इन क्षेत्रों में जनता के अत्यन्त व्यापक तबकों ने साम्राज्यवाद की गुलामी से इनकार कर दिया है। उनमें न सिर्फ मजदूर, किसान, बुद्धिजीवी, और निम्न पूंजीपति शामिल हैं, बल्कि देशभक्त राष्ट्रीय पूंजीपति तथा कुछ देशभक्त राजे-रजवाड़े और कुलीन भी शामिल हैं।'' (महान बहस,अन्र्राष्ट्रीय प्रकाशन, पृष्ठ-10)*

परन्तु जहां वर्ग-अन्तर्य में माओ को कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं दिखाई दिया वहीं राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों की यात्रा में एक नयी मंजिल आ गयी थी। माओ ने पाया कि एशिया एवं अफ्रीका के पचास से अधिक देशों की संघर्षरत् जनता ने साम्राज्यवाद को परास्त करके अपने लिये **राजनीतिक स्वाधीनता** हासिल कर ली थी। माओ ने जहां एक ओर राष्ट्र मुक्ति-संघर्षों के आगे बढ़ने एवं इस नई मंजिल के आ उपस्थित होने का स्वागत किया वहीं उन्होंने इसके सामने मौजूद चुनौतियों एवं नये खतरों से इन्हें अवगत भी करवाया। वे कहते हैं :

''जिन राष्ट्रवादी देशों ने हाल ही में राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त की है, उनके सामने अब भी उसे सुदृढ़ बनाने,साम्राज्यवाद और घरेलू प्रतिक्रियावादियों की शक्ति को नष्ट करने, भूमि संबन्धी व अन्य सामाजिक सुधार करने तथा अपनी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था व संस्कृति का विकास करने के कठिन काम मौजूद हैं। इन देशों के लिये इस बात का व्यवहारिक और भारी महत्व है कि वे पुराने उपनिवेशवादियों द्वारा अपने हितों की रक्षा के लिये अपनायी जाने वाली नव-उपनिववेशवादी नीतियों से सतर्क रहें और उनके खिलाफ संघर्ष करें, खास तौर पर अमेरिकी साम्राज्यवाद के नव-उपनिवेशवाद से सतर्क रहें और उसके खिलाफ संघर्ष करें।''('महान बहस',अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन,पृष्ठ-11)। उक्त बातों को यदि दूसरे शब्दों में दोहराया जाय तो 1963 में विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन की आम दिशा तय करते समय माओ और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने साम्राज्यवादी युग के चौखटे के भीतर पुराने उपनिवेशवाद के टूटने एवं इसी चौखटे के भीतर **राजनीतिक स्वाधीनता** प्राप्त देशों की प्रक्रिया के क्रमशः आगे बढ़ने को चिन्हित किया। ऐसे देश जो साम्राज्यवाद के चौखटे के ही बाहर निकल गये हैं मसलन क्यूबा, उत्तरी कोरिया, उत्तरी वियतनाम को माओ इस श्रेणी में नहीं रखते हैं। 'महान बहस' पर चौथी टिप्पणी के पहले पैरा में बहुत साफ तौर पर कहा गया है कि

''दूसरे विश्व युद्ध के बाद से एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका में एक महान क्रांतिकारी तूफान उमड़ रहा है। पचास से अधिक एशियाई और अफ्रीकी देशों में स्वाधीनता का ऐलान किया जा चुका है। चीन वियतनाम,कोरिया और क्यूबा ने समाजवादी रास्ता अपना लिया है। एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका की धरती पर भारी परिवर्तन हुए हैं।

'' पहले विश्व युद्ध के बाद उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों की क्रांतियों को साम्राज्यवादियों और उनके गुर्गों के दमन के कारण गम्भीर आघात पहुंचा था,जबकि दूसरे विश्व युद्ध के बाद परिस्थिति बुनियादी तौर पर भिन्न है। अब राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों के दावानल को बुझाने की सामर्थ्य साम्राज्यवादियों में नहीं रह गयी है। उनकी पुरानी उपनिवेशवादी व्यवस्था तेजी से छिन्न-भिन्न हो रही है।''('महान बहस', अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन, पृष्ठ-142)

राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान की ओर इन आंशिक सफलताओं के संदर्भ में माओ की भविष्यवाणी सही साबित हुई । बीसवीं सदी समाप्त होते-होते तेजी से छिन्न-भिन्न हो रही पुरानी उपनिवेशवादी व्यवस्था पूरी तरह से विघटित हो गई। एशिया,अफ्रीका,लातिन अमेरिका के लगभग सभी औपनिवेशिक देशों ने राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल कर ली।

नई तरह की उपनिवेशवादी स्थितियां

पुरानी उपनिवेशवादी व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने और समाप्त होने का मतलब था उत्पीड़ित राष्ट्रों/देशों के लोगों द्वारा अपने साम्राज्यवादी मालिकों की इच्छाओं और हितों के खिलाफ आत्मनिर्णय का अधिकार हासिल करना। उत्पीड़ित लोगों ने इसके तहत अलग होने के अधिकार को इस्तेमाल किया और नयी भौगोलिक सीमाएं निर्धारित करवायीं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद मुक्ति संघर्षों की लहर ने, शेष बीसवीं शताब्दी में दुनिया के मानचित्र में लगातार परिवर्तन करवाये। ये बहुत उल्लेखनीय एवं महत्वपूर्ण परिवर्तन थे। पिछड़े देशों के लोगों का व्यवहार दूसरे इंटरनेशनल के नेताओं की चेतना को लांघ गया। उत्पीड़ित देशों के लोगों ने'स्वायत्तता' से कहीं बड़ी चीज अपने संघर्षों द्वारा हासिल की।

किन्तु इन जीतों का यह मतलब नहीं कि पिछड़े देशों के लोगों के लिये राष्ट्रीय प्रश्न हल हो गया है। इन जीतों की बदौलत राष्ट्रीय प्रश्न अंशतः ही हल हो पाया। उसे पूर्णतः हल करने के लिये अभी आगे और संघर्ष करने होंगे। दुनिया में अब भी साम्राज्यवाद क्रियाशील है। साम्राज्यवाद का मतलब होता है प्रभुत्व (domination)। पूरी दुनिया के करोड़ों-अरबों लोगों पर थोड़े से साम्राज्यवादी देशों का प्रभुत्व पुराने उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद अब भी कायम है और विगत दिनो में वह बढ़ा है। दुनिया अब भी उत्पीड़क और उत्पीड़ित देशों में बंटी हुई है। साम्राज्यवाद के पुराने क्रूर एवं प्रत्यक्ष रूप (उपनिवेशवाद) की जगह उसने नये, परिष्कृत एवं अप्रत्यक्ष रूप(नव-उपनिवेशवाद एवं आर्थिक नव उपनिवेशवाद) इस समय दुनिया में विद्यमान है।

21वीं सदी की वर्तमान स्थिति की अनेक बुनियादी महत्व की बातें वही हैं जो आज से आठ दशक पहले लेनिन व कौमिंटर्न ने निरूपित की थी, मसलन साम्राज्यवाद की मौजूदगी, दुनिया के संसाधनों और बाजारों के लिये साम्राज्यवादियों के बीच तीखी प्रतिद्वन्द्विता, एवं विनाशकारी युद्धों का खतरा, पूरी दुनिया का उत्पीड़न साम्राज्यवादी देशों और उत्पीड़ित देशों में बंटा होना इत्यादि। परन्तु राष्ट्रीय प्रश्न के संदर्भ में दुनिया की वर्तमान स्थिति की कुछ ऐसी खासियतें हैं जो लेनिन एवं कौमिंटर्न के जमाने में नही थीं। इनमें एक यह है कि आज पिछड़े देशों ने औपचारिक तौर पर आत्मनिर्णय का अधिकार (जिसमें अलग होने की आजादी भी शामिल है) हासिल कर लिया है। इतना ही नहीं, अपने आत्मनिर्णय के अधिकार के तहत इन्होंने अलग होने के अधिकार इस्तेमाल भी किया है। बल्कि इनमें से अधिकांश तो साम्राज्यवाद के खिलाफ इसे इस्तेमाल करके ही राजनीतिक तौर पर स्वाधीन देश बने है। मगर इतने सब कुछ के बावजूद साम्राज्यवाद इन पर दबाव बनाता है और इनका उत्पीड़न करता है। साम्राज्यवाद इन पर आर्थिक ही नहीं राजनीतिक,सामरिक,सांस्कृतिक,हर तरह का दबाव बनाता है। वह लगातार इनकी राजनीतिक स्वाधीनता को सीमित करने एवं बेमानी बनाने की कोशिशें करता है याने कि इनके आत्मनिर्णय के दायरे को घटाता है। यह स्थिति इन देशों के स्वाधीनता संग्रामों की विजय से लेकर अब तक बनी हुई है यद्यपि इसमें उतार-चढ़ाव आये हैं,यानि कि साम्राज्यवादी दबाव घटा-बढ़ा है। देश-देश की विशिष्ट स्थिति में भी अन्तर है - कही पर साम्राज्यवादी दबाव व हस्तक्षेप अत्यधिक है,कहीं पर कम है। दुनिया में आज ऐसे देश हैं जहां कहने के लिए तो देशी शासको के हाथों में सत्ता है परन्तु ये शासक साम्राज्यवादियों द्वारा नियंत्रित कठपुतली सरकारें हैं, मसलन अफगानिस्तान, कोलंबिया, फिलीपींस की सरकारें। इन देशों में प्रत्यक्ष साम्राज्यवादी शासन न होने के बावजूद इनकी राजनीतिक स्वाधीनता का कोई अर्थ नहीं है, इनके पास नाममात्र के लिये आत्मनिर्णय का अधिकार है। ये देश नव-उपनिवेश हैं। दूसरी ओर, पिछड़े देशों में ऐसे देश हैं जहां के देशी शासकों के ऊपर साम्राज्यवादी दबाव तो रहता है लेकिन

मोटे तौर पर वे अपने निर्णय अपने वर्ग हितों के मद्देनजर स्वयं लेते हैं। साम्राज्यवादी चौखटे के भीतर ये अपने आत्मनिर्णय के अधिकार का प्रयोग करते हें। मूलतः आर्थिक उपकरणों के जरिये साम्राज्यवाद इन्हें नियंत्रित करने की कोशिश करता है हालांकि इनका कूटनीतिक अलगाव बढ़ाने एवं इन्हें राजनीतिक आज्ञापन देने की कोशिशें भी वह लगातार करता है और एक हद तक इसमें सफल भी होता है। भारत, मिस्र, मैक्सिको, ब्राजील जैसे देशों की इस श्रेणी के लिये सही संज्ञा आर्थिक नव उपनिवेशवाद है। आर्थिक नव उपनिवेशवाद की श्रेणी में आने वाले देशों की श्रेणी से ही आज तीसरी दुनिया की समग्र स्थिति मूलतः निर्धारित हो रही है। इसीलिये साम्राज्यवाद के वर्तमान चरण को आर्थिक नव उपनिवेशवाद के चरण के रूप में परिभाषित करना उचित है, हालांकि हमलावर साम्राज्यवाद व-उपनिवेशवाद की स्थितियां तैयार करने की कोशिश कर रहा है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद नवस्वाधीन देशों की इस परिघटना में एक महत्वपूर्ण बात, इनके शासक वर्गों की स्थिति में आया परिवर्तन है। यहां पुराने उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद अधिकांश स्थानों पर देशी पूंजीपति वर्ग के हाथ सत्ता लगी। कुछ देशों में निम्न पूंजीपति वर्ग सत्ता पर काबिज हुआ लेकिन वह भी कालान्तर में पूंजीपति वर्ग में तबदील हो गया। कहीं पर पूंजीपतियों को सामंती भूस्वाामियों को सत्ता में हिस्सेदारी देनी पड़ी (मसलन भारत), कहीं पर इसकी भी आवश्यकता नहीं थी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की अनुकूल स्थितियों में - पहले साम्राज्यवादी खेमे और समाजवादी खेमे के बीच के अन्तर्विरोध से उत्पन्न स्थिति और फिर बाद में तीखे अन्तःसाम्राज्यवादी अन्तर्विरोधों की स्थितियों में - इस वर्ग को सौदेबाजी करने और फूलने-फलने का भरपूर मौका मिला। इस दौरान इसने साम्राज्यवादी चौखटे के भीतर रहते हुए ही स्वतंत्र पूंजीवादी विकास की कोशिशें की। ये प्रयोग अंशतः सफल होने के बावजूद - एक हद तक की बन्द आटार्किक अर्थव्यवस्थाओं के निर्माण के बावजूद - संकटों से घिरे रहे। बीसवीं सदी के आठवें और नवें दशक में अधिकांश देशों ने यह सार- संकलन कर लिया कि वे अपनी दम पर अपनी अर्थव्यवस्थाओं का स्वतंत्र पूंजीवादी विकास आगे नहीं कर पायेंगे, ऐसे में यही चारा बचता है कि वे अपनी अर्थव्यवस्थाओं को साम्राज्यवाद के साथ नत्थी करें, वैश्वीकरण न केवल इन देशों की मजबूरी थी (संकटग्रस्त स्थिति में एकमात्र विकल्प) बल्कि वह इन देशों के पूंजीपतियों के लिये लाभदायक भी है, वैश्वीकरण की बदौलत यद्यपि इस वर्ग का मार्केट शेयर घटेगा लेकिन तब भी इन्हें मिलने वाले कुल बेशी मूल्य की मात्रा निरपेक्षतः बढ़ेगी। ये वर्ग वैश्वीकरण की प्रक्रिया में अपने आत्मनिर्णय के तहत शरीक हुए हालांकि इस निर्णय में साम्राज्यवादी दबाव सहायक भूमिका निभा रहा था। जिन्होंने यह निर्णय नहीं लिया मसलन वर्मा, वे आज भी अपने आत्मनिर्णय के तहत तमाम दबाव के बावजूद साम्राज्यवाद से दूरी बनाये हुए हैं।

यहां एक उल्लेखनीय बात यह है कि जब ये देश साम्राज्यवाद से पार्थक्य बढ़ाते हुए स्वतंत्र पूंजीवादी विकास की चेष्टाएं कर रह थे तब इन देशों का समस्त पूंजीपति वर्ग (इजारेदार,गैर-इजारेदार सभी) इस माडल से लाभान्वित हो रहा था और आज जब साम्राज्यवाद से सांठगांठ हो रही है तब भी अपने कम या ज्यादा नुकसान/फायदे की कीमत पर पूंजीपति वर्ग के सभी हिस्से साम्राज्यवाद से एकीकृत हो रहे हैं। ऐसा नहीं है कि देशी पूंजीपतियों का कोई एक धड़ा साम्राज्यवाद के विरोधी के रूप में आज खड़ा हो । ऐसी स्थिति कि पिछड़े देशों के पूंजीपति वर्ग का एक हिस्सा (राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग) एक लंबे कालखंड तक साम्राज्यवादी व्यवस्था का विरोधी बना रहे, सम्भव नहीं है। पूंजीपति होने के नाते उसे साम्राज्यवाद से रिश्ते रखने होते हैं और देर-सबेर वह साम्राज्यवादी व्यवस्था में समाहित होने लगता है। वैश्वीकरण की मुहिम के तहत तीसरी दुनिया के पूंजीपतियों के सभी हिस्सों का

समायोजन आगे बढ़ रहा है। आज यदि तीसरी दुनिया के पूंजीपतियों का साम्राज्यवाद से कोई अन्तर्विरोध बनता है तो वह वैश्विक अतिरिक्त मूल्य संचय में अपना हिस्सा बढ़ाने के लिये बनता है, यह अन्तर्विरोध साम्राज्यवादी व्यवस्था के विखंडन (disintegration) तक नहीं जाता है। इस मामले में, देशी पूंजीपतियों के सभी हिस्सों (इजारेदार, गैरइजारेदार सभी) का साम्राज्यवाद से अन्तर्विरोध के स्तर में मात्रात्मक भिन्नताएं ही हैं, इनमें कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है । ऐसा नहीं है कि एक हिस्सा साम्राज्यवाद का पालतू कुत्ता, दलाल हो और दूसरा क्रांति का ढुलमुल मित्र। आज यदि इन्हें साम्राज्यवाद और क्रांति के बीच चुनना पड़े तो देशी पूंजीपतियों के सभी हिस्से साम्राज्यवाद के साथ खड़े होंगे, भले ही क्रांतिकारी इन्हें कितनी ही अल्पकालिक रियायतें देने की बात क्यों न करें।

परोपजीवी वर्गों के किन्ही हिस्सों (देशभक्त भूस्वामियों,राजे रजवाड़े इत्यादि) या देशी पूंजीपतियों के किसी भी हिस्से द्वारा साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष न करना, वर्तमान समय की एक ऐसी लाक्षणिक विशेषता (feature) है जो आज के साम्राज्यवाद-विरोध को कोमिंटर्न एवं 1963 के दौर के साम्राज्यवाद-विरोध से अलग करती है। आज परोपजीवी वर्गों का कोई हिस्सा क्रांतिकारी संदर्भ में साम्राज्यवाद विरोधी नहीं है । आज पिछड़े देशों के मेहनतकश वर्ग (मजदूर, अर्ध-सर्वहारा, गरीब व मझौले किसान,निम्न पूंजीपति वर्ग इत्यादि) ही साम्राज्यवाद के खिलाफ क्रांतिकारी वर्गों के हमसफर हैं। राष्ट्रीय-उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने की जिम्मेदारी ये वर्ग ही उठायेंगे। साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की राजनीति में आये इस महत्वपूर्ण परिवर्तन को अनदेखा कर के आज साम्राज्यवाद विरोधी लहर को पुनः उभारना कतई संभव नहीं। इसे अनदेखा करने पर कम्युनिस्टों के प्रचार एवं उद्वेलन की धार कुन्द होगी।

उत्पीड़ित राष्ट्रों के किसान चरित्र में परिवर्तन

कौमिन्टर्न की आम दिशा तय करते समय लेनिन ने रेखांकित किया था कि पिछड़े देशों में आबादी का अत्याधिक बड़ा हिस्सा किसान होने के चलते,जो कि बुर्जुआ पूंजीवादी संबन्धों को अभिव्यक्त करते हैं,इन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलन का अन्तर्य बुर्जुआ-जनवादी ही होगा। द्वितीय विश्व युद्व के बाद पिछड़े देशों में हुए पूंजीवादी विकास ने इन देशों की वर्गीय संरचना (class composition) में अच्छा-खासा परिवर्तन कर दिया है। अधिकांश उत्पीड़ित राष्ट्र/देश अब किसान चरित्र वाले देश नहीं रहे, ये सर्वहाराओं, अर्ध-सर्वहाराओं के देश हो चुके हैं। यह एक ऐसा बड़ा परिवर्तन है जिसे अपनी रणनीति तय करते समय वर्तमान कम्युनिस्ट सामान्यतः अनदेखा कर देते हैं।

भारत के उदाहरण को लिया जाय। 100 करोड़ के देश में आबादी का लगभग 3/4 हिस्सा अभी भी देहात में रहता है,शहरों में आबादी का 1/4 हिस्सा ही निवास करता है। इसके बावजूद आज के भारत में किसान आबादी का अत्यधिक बड़ा हिस्सा नहीं बनते,बल्कि आज वे कामगार आबादी का बहुमत भी नहीं बनते हैं आज(वर्ष 2001 की जनगणना के मुताबिक)भारत में कुल 40 करोड़ कामगार हैं (31 करोड़ मुख्य एवं 9 करोड़ आंशिक)। इनमें से खेती करने/करवाने वाले किसानों की संख्या करीब 12.7 करोड़ है। यानि कि वर्तमान आंकड़ों के हिसाब से किसान भारत की आबादी का 32% भी नहीं बनते। इतना ही नहीं वे आज देहात में रहने वाली आबादी का बहुमत भी नहीं बनते। हां यह बात अपनी जगह सही है कि कृषि आज भी भारत की आधी से ज्यादा कामगार आबादी को रोजगार देती है,लेकिन इसकी वजह वर्तमान भारत में खेत मजदूरों की भारी संख्या भी है (करीब 10.5 करोड़)

अर्थात किसान एवं खेत मजदूर मिलकर कामगार आबादी का 58% के आस-पास हो जाते हैं। लेकिन खेत मजदूर तो किसान नहीं होते वह किसानों से आगे बढ़ा हुआ वर्ग है, वे कहीं से भी बुर्जुआ-पूंजीवादी रिश्तों के प्रतिनिधि नहीं हैं। यदि भारत में सभी प्रकार के मजदूरों एवं अर्ध-सर्वहाराओं को जोड़ लिया जाय तो वे कुल कामगार आबादी में 2/3 से अधिक हैं। यानि कि भारत की आबादी 2/3 यद्यपि वर्तमान समय में पूंजीवादी संबन्धों में कैद है फिर भी वे भावी समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के ही प्रतिनिधि हैं, न कि बुर्जुआ पूंजीवादी सम्बन्धों के। इससे मिलती-जुलती या इससे भी आगे बढ़ी हुई स्थितियां शेष पिछड़ी दुनिया में हैं। इस नयीं स्थिति(देश की कुल कामगार आबादी में किसान समुदाय के आकार के सिकुड़ने,राष्ट्रीय चरित्र के निर्धारण करने के लिये किसानों के निर्णायक हैसियत में न होने की स्थिति) का जायजा लेने के लिये हम तीसरी दुनिया के कुछ बड़े देशों (जिनसे समग्र तस्वीर मुख्यतः तय होती है) के आंकड़े तालिका-1 में प्रस्तुत कर रहे हैं। हमें कुल कामगार आबादी में किसान समुदाय के आकार के प्रत्यक्ष आंकड़े उपलब्ध न हो सके। किन्तु हमारे पास शहरीकरण के आंकड़े हैं जिनसे परोक्षतः यह अन्दाजा लग जाता है कि उस देश में कुल आबादी के सापेक्ष किसान समुदाय का आकार क्या होगा?

तालिका-1

देश	जनगणना वर्ष	कुल आबादी (करोड़ों में)	कुल आबादी में शहरी (आबादी का हिस्सा)
वियतनाम	1999	07.63	20.1
बांग्लादेश	1991	11.15	20.2
वर्मा	1983	03.53	24.0
भारत	1991	84.63	25.7
चीन	1990	113.36	26.4
कॉंगो	1984	02.97	29.1
इण्डोनेशिया	1990	17.86	30.9
थाईलैण्ड	2000	06.06	31.1
पाकिस्तान	1998	13.06	33.3
नाइजीरिया	1991	08.85	35.0
मिस्र	1996	05.93	42.6
अल्जीरिया	1998	02.92	48.6
फिलिपीन्स	2000	07.53	48.6
दक्षिण-अफ्रीका	1996	04.06	53.7
ईरान	1996	06.01	61.3
मैक्सिको	2000	09.74	71.3

ब्राजील	**1991**	**14.68**	**75.6**
दक्षिण-कोरिया	**1995**	**04.46**	**81.0**
अर्जेन्टीना	**1991**	**03.26**	**88.4**

नोटः- 1. वर्मा एवं कांगो के आंकड़े थोड़ा पुराने हैं, वहां बाद के दौर में शहरीकरण के बढ़ने की ही उम्मीद है।

2. हालांकि भारत के 2001 के आंकड़े उपलब्ध हैं, तुलना की आसानी के लिए 1991 के आंकड़े इस्तेमाल किये गये हैं।

तालिका को देखने से ही तीसरी दुनिया का यथार्थ उभर कर सामने आ जाता है । भारत तालिका के उस छोर पर है जहां तुलनात्मक अर्थों में शहरीकरण कम है। यदि भारत में ही किसान समुदाय कुल कामगार आबादी का बहुमत भी नहीं रहा तो तालिका से सुस्पष्ट है कि आज तीसरी दुनिया में आबादी का अत्यधिक बड़ा हिस्सा किसान नहीं है।

इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि आज राष्ट्रीय प्रश्न से किसान प्रश्न विच्छेदित (de-link) हो गया है। औपनिवेशिक दौर में साम्राज्यवाद, सामन्तवाद को पालता-पोसता था।

यानि कि वर्तमान आंकड़ों के हिसाब से सामंतवाद किसानों की पूंजीवादी विकास की चेष्टाओं को बाधित करता था। ऐसी हालत में किसान पूंजीवादी संबन्धों की स्थापना करना चाहें तो उन्हें साामंतवाद के साथ-साथ साम्राज्याद से भी लोहा लेना पड़ता था। साम्राज्यवाद को पीछे धकेले बगैर किसान सामंतवाद से अपने आप को मुक्त नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति के कारण यह माना जाता था कि राष्ट्रीय प्रश्न, किसान प्रश्न से जुड़ा हुआ है, कि राष्ट्रीय प्रश्न को हल करने के लिये किसान आन्दोलन की मदद मिलती है ।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के काल में उपनिवेशवाद से मुक्ति के बाद नव-स्वाधीन देशों ने पूंजीवादी विकास के रास्ते पर कदम रखे। इनमें से कुछ देशों में एक हद तक भूमि सुधार हुए, कुछ में केवल नाम-मात्र के भूमि सुधार किये गये। लेकिन सभी जगह जमींनें नहीं भी बांटी गयी तब भी बुर्जुआ विकास के लिये तकनीकी सुधार किये गये और बाजार पर आधारित नये किस्म की खेती को प्रोत्साहित किया गया । पिछले 4-5 दशकों से किये जा रहे इस तकनीकी सुधार ने सामंतवाद को क्रमशः कमजोर किया तथा कृषि को बुर्जुआ-पूंजीवादी दायरे में समेटा। इस प्रक्रिया में अनेक पहले के सामंत भी पूंजीवादी भूस्वामियों में तबदील हुए, लेकिन मुख्य बात यह है कि किसान सामंतों की जकड़ से मुक्त हुए और बाजार से जुड़े। दूसरे शब्दों में किसानों का सामंतवाद से अन्तर्विरोध क्रमशः घटता गया। बुर्जुआ-पूंजीवादी संबन्धों की स्थापना जो कि किसान समुदाय के आन्दोलन का लक्ष्य होती है, गैर क्रांतिकारी सुधारों से हासिल कर ली गयी। इस परिवर्तन का असर किसान समुदाय के अलग-अलग संस्तरों के लिये अलग-अलग रहा। धनी किसानों को आगे बढ़ने एवं ग्रामीण सर्वहाराओं के श्रम के शोषण के पर्याप्त अवसर मिले, वे मौजूदा आर्थिक तंत्र के बदल जाने के खिलाफ है। लेकिन मझोले एवं छोटे- किसानों की स्थिति ऐसी नहीं है । पूंजीवाद के बाजार से जुड़ने पर इनकी हालत सुधरी नहीं है, इनकी स्थिति संकटग्रस्त है। ऐसी हालत में इनका (विशेषकर छोटे-किसानों का) अंतर्विरोध अब इन बुर्जुआ पूंजीवादी तंत्र से बनता है। दिन-ब-दिन, जैसे-जैसे कृषि संकट गहराता जा रहा है वैसे-वैसे ये किसान इन बुर्जुआ-पूंजीवादी संबन्धों से आगे के उत्पादन संबन्ध मागेंगे, वे समाजवाद एवं इसके संकटरहित माहौल के प्रति आकर्षित होंगे।

मूल बात यह है कि किसान प्रश्न(कृषि के सामंतवाद से मुक्ति का प्रश्न) के क्रमिक बुर्जुआ सुधारों द्वारा हल हो जाने के कारण, वह अब पहले की तरह राष्ट्रीय प्रश्न से जुड़ा हुआ नहीं है। इस मामले में सबसे अहम् बात यह है कि साम्राज्यवाद आज अंग्रेज-उपनिवेशवादियों की तरह सामंतों को पालता-पोसता नहीं है। कि 21 वीं सदी के साम्राज्यवाद का पूर्व के देशों में सामाजिक अवलम्ब(social prop) बदल गया है। देहात में सामंती वर्ग की जगह, अब पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवाद के सामाजिक अवलम्ब हैं। कुल स्थिति यह बनती है कि 'बुर्जुआ-जनवाद' की प्राप्ति की खातिर किसान समुदाय का सामंतों के खिलाफ संघर्ष, जो प्रकारान्तर से साम्राज्यवाद(उपनिवेशवाद) के खिलाफ संघर्ष भी था अब अर्थहीन हो चुका है। इसलिए 21वीं सदी में पूर्व के देशों की कुल आबादी के सापेक्ष सिकुड़ा हुआ किसान समुदाय अब पहले की तरह नहीं रहा, इसकी मझौली एवं निचली परतें अब बुर्जुआ-पूंजीवादी रिश्तों से तबाह हो रही हैं और वे समाजवाद की ओर उन्मुख होंगी, अर्थात् वर्तमान दुनिया की दूसरी लाक्षणिक विशेषता जो कि कौमिंटर्न के जमाने से भिन्न है, वह यह है कि उत्पीड़ित देशों में इस दौर (21वीं सदी) के राष्ट्रीय आन्दोलन का अन्तर्य बुर्जुआ प्रतिनिधियों के पूंजीवादी रिश्तों के अभिव्यंजक किसान नहीं तय कर रहे हैं। इन देशों में जिस भारी तादाद में सर्वहारा एवं अर्ध-सर्वहारा अस्तित्व में आ गये हैं और किसानों की बड़ी संख्या का जिस हद तक बुर्जुआ-पूंजीवादी रिश्तों से मोह भंग हो रहा है, उससे राष्ट्रीय आन्दोलन को समाजवादी आन्दोलन में समाहित करने की सम्भावनाएं तैयार हो चुकी हैं और आने वाले दिनों में इसी दिशा में और प्रगति होगी, क्योंकि किसान समुदाय का संकट एवं विभेदीकरण(polariazation) और आगे बढ़ेगा। यदि राष्ट्रीय उत्पीड़न के खिलाफ किसान मुख्य लड़ाकू शक्ति नहीं बनते बल्कि देहात और शहरों के सर्वहारा एवं अर्ध-सर्वहारा ही मुख्य लड़ाकू शक्ति बनते हैं तो यह बात बड़े विश्वास के साथ निरूपित की जा सकती है कि 21वीं सदी के राष्ट्र मुक्ति आन्दोलन का अन्तर्य बुर्जुआ-जनवादी न होकर समाजवादी होगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि आज भी कम्युनिस्ट पार्टियों एवं सर्वहारा को किसान आन्दोलन के साथ संश्रय कायम करके साम्राज्यवाद-विरोधी लड़ाई लड़नी है, लेकिन पुरानी स्थिति में और वर्तमान स्थिति में दो बड़े अन्तर आ चुके हैं। पहला यह कि आज मजदूर किसान संश्रय के बड़े घटक किसान नहीं सर्वहारा एवं अर्ध-सर्वहारा की पांतें होंगी। दूसरा, यह कि आज इस संश्रय को कायम करने की खातिर कम्युनिस्ट अपनी रणनीति में पूरे किसान समुदाय से एकता स्थापित नहीं करेंगे, कि कम्युनिस्टों की रणनीति छोटे एवं मझौले किसानों को लामबन्द करने पर केन्द्रित होगी। किसान समुदाय की ये पांतें अपने संकट का हल समाजवाद में देखेंगी जबकि धनी किसान वर्तमान पूंजीवादी एवं साम्राज्यवादी व्यवस्था को बनाये रखने के लिये लड़ेंगे।

उत्पीड़ित देशों द्वारा राष्ट्रीय उत्पीड़न

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से ही, लेकिन 20 वीं शताब्दी की आखिरी तिहाई में एक और जटिलता पैदा हो गयी है। नव-स्वाधीन देशों ने न केवल अपने आप को एक ऐसी स्थिति में पाया जिसमें औपचाारिक तौर पर राजनीतिक आजादी मिलने के बाद भी ये देश साम्राज्यवाद से उत्पीड़ित है, बल्कि ये स्वयं भी अपने भीतर की राष्ट्रीयताओं के उत्पीड़क बने। दुनिया भर में इसकी कई मिसालें हैं, मसलन भारत द्वारा कश्मीरी,नागा,मीजो, असमिया इत्यादि लोगों का उत्पीड़न या श्रीलंकाई राजसत्ता द्वारा तमिलों का उत्पीड़न या ईरान व इराक द्वारा कुर्दों का उत्पीड़न या इंडोनेशिया द्वारा पूर्वी तिमोर का उत्पीड़न आदि, आदि। यहां जटिलता इतनी ही नहीं है कि उत्पीड़ित राष्ट्र स्वयं उत्पीड़क राष्ट्र भी है, बल्कि उलझाव यह भी है कि साम्राज्यवाद

स्वयं इनमें से कई राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के समर्थक के तौर पर सामने आया है। पूर्वी तिमोर के मामले में यह बात बहुत स्पष्ट तौर पर दिखाई दी। वैसे तीसरी दुनिया की राजसत्ताओं के खिलाफ चलने वाले लगभग हर राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रत्यक्षतः नहीं तो परोक्षतः साम्राज्यवाद उकसाता रहता है। ऐसा करने पर एक तो उसे तीसरी दुनिया के शासक वर्गों पर दबाव बनाने का मौका मिलता है, दूसरा यदि ये आन्दोलन सफल हुए तो उन्हें अन्य मौके मिलते हैं। पूर्वी तिमोर के मामले में तो यही सामने आया है कि नया राष्ट्र अमेरिका एवं आस्ट्रेलिया का संयुक्त नव उपनिवेश बन गया है ।

'पूर्व' के लोगों के राष्ट्रीय आन्दोलन में इस तरह की पेचीदगियां पहले नहीं थी। पहले यह परिघटना अपेक्षाकृत सरल थी। पहले एक तरफ उत्पीड़क साम्राज्यवादी देश/राष्ट्र थे और दूसरी तरफ उत्पीड़ित देश/राष्ट्र थे। बस इतना ही। यह पेचीदगी तब से पैदा होनी शुरू हुई जब से 'पूर्व' के देशों में औपचारिक राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्ति के बाद पूंजीवादी विकास तेज हुआ। इन देशों के पूंजीवादी विकास ने इनके भीतर दबी-कुचली राष्ट्रीयताओं को उनके वजूद का एहसास कराया और वे अपने उत्पीड़न के खिलाफ गोलबंद होने लगे। ऐसे में अपनी उत्पीड़क राजसत्ता के खिलाफ उनकी लड़ाई एक जायज लड़ाई बनती है। यदि दुनिया में साम्राज्यवाद के षड्यंत्र न होते तो इन लड़ाइयों में जीत से राजनैतिक जनवाद का विस्तार होता। लेकिन साम्राज्यवादी आज इन लड़ाइयों को अपने हक में इस्तेमाल कर ले रहा है। साम्राज्यवाद ऐसा कर ले जा रहा है, इसका भी निश्चित कारण है। वह कारण है आज दुनिया में समाजवादी देशों एवं एक सशक्त समाजवादी आन्दोलन की गैरमौजूदगी, यदि सोवियत संघ,चीन आदि में पूंजीवादी पुनर्स्थापना न हुई होती तो दुनियाभर में साम्राज्यवाद के खिलाफ सघन प्रचार हो रहा होता। ऐसे में साम्राज्यवाद के लिये यह बहुत मुश्किल होता कि वह जनवाद के प्रतिनिधि का ढोंग कर सके और राष्ट्रीयताओं के इन आन्दोलनों को बरगला सके । ऐसे में राष्ट्रीयताओं के इन आन्दोलनों की साम्राज्यवाद विरोधी चेतना होती और तब वे भेड़िये के खिलाफ लड़ते-लड़ते शेर को अपना मित्र समझने की गलती न करते ।

वर्तमान स्थिति में कम्युनिस्टों को इनके प्रति क्या नीति अपनानी चाहिये? सर्वप्रथम तो कम्युनिस्टों को हर संभव तरीके से इनमें साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना विकसित करनी चाहिये। साम्राज्यवाद-विरोधी चेतना के अभाव में यह बहुत मुमकिन है कि ये आन्दोलन वस्तुगत तौर पर प्रतिक्रियावादी आन्दोलनों में तबदील हो जायें। दूसरा,यह कि कम्युनिस्ट हर हाल में हमेशा ही संघर्षरत राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार (जिसमें अलग होने का अधिकार भी शामिल है) की वकालत नहीं करते। कम्युनिस्ट इस मांग का समर्थन भी तभी करते हैं जब वे निश्चित हो कि अपनी मौजूदा स्थिति में वह विशिष्ट आन्दोलन प्रगतिशील है (प्रतिक्रियावादी नहीं है) और उसकी विजय से दुनिया में राजनीतिक जनवाद का विस्तार होगा। ऐसी प्रगतिशील स्थितियों में भी कोई जरूरी नहीं है कि अलग होने की मांग कम्युनिस्ट अपनी ओर से उठायें या उसकी पैरोकारी करें। हो सकता है कि विशिष्ट स्थिति में तात्कालिक अलगाव से सर्वहारा वर्ग के संघर्ष के लिये स्थिति और पेचीदी व प्रतिकूल होती हों। ऐसी हालत में कम्युनिस्ट उत्पीड़ित कौम के लोगों से यही कहेंगे कि 'अलग होना आपका अधिकार है परन्तु बेहतरी इसी में है कि आप फलां कदम उठायें... फलां रास्ते पर चलें'। यह वैसी ही बात होगी जैसी चुनाव बहिष्कार करवाते समय कम्युनिस्ट लोगों से यह कहते हैं कि 'वोट डालना आपका अधिकार है, परन्तु उचित यही है कि वोट डालने के बजाय आप-हम फलां काम करें। ... फलां रास्ते पर चलें'। यदि ये आन्दोलन समाजवाद के रास्ते में बाधा होंगे तो कम्युनिस्ट इनका विरोध करेंगे। यदि

जरूरत पड़े और संभव हो तो कम्युनिस्ट इनका दमन भी करेंगे। लुब्बे-लुबाब यह कि कम्युनिस्ट प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद का समर्थन नहीं करते। वे केवल उस राष्ट्रवाद का समर्थन करते हैं जिससे राजनीतिक जनवाद का विस्तार होता हो। राष्ट्रीय आन्दोलन कम्युनिस्टों का अपना कार्यभार नहीं है। समाजवाद कम्युनिस्टों का एजेण्डा है। कम्युनिस्ट किसी भी राष्ट्रवादी आन्दोलन का बिना शर्त समर्थन नहीं करते। राष्ट्रवादी आन्दोलनों का वे हमेशा सशर्त समर्थन करते हैं। कम्युनिस्टों के लिये राष्ट्रीय प्रश्न हमेशा ही वर्ग-प्रश्न के मातहत होता है।

साम्राज्यवाद-विरोध की एक खतरनाक प्रवृत्ति

पिछले दिनों में धार्मिक जमीन पर खड़े होकर,इस्लाम धर्म की जमीन पर खड़े होकर जमकर साम्राज्यवाद-विरोध हो रहा है। यह विरोध जुझारू है और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये मुसलमान-मुजाहिदीन एक के बाद एक कुर्बानियां दे रहे हैं। इनके जज्बे एवं इनकी संघर्षशीलता से आकर्षित होकर कुछ कम्युनिस्ट संगठनों एवं कुछ मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों ने ऐसे विरोध का स्वागत किया है। सवाल यह है कि क्या इन मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों एवं क्रांतिकारी कम्युनिस्ट संगठनों की उक्त अवस्थिति ठीक है?

यह प्रश्न पहली बार कम्युनिस्ट आन्दोलन में नहीं उठ रहा है। विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन को कई मौकों पर अपने भीतर के ऐसे रूझानों से दो-दो हाथ करने पड़े हैं। उक्त किस्म के या अन्य प्रकार के प्रतिक्रियावादी साम्राज्यवाद-विरोध के प्रति आकर्षण सामान्यतः हताशा की स्थिति में पैदा होता है। यदि विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन को विपर्यय का सामना न करना पड़ता तो कम्युनिस्टों के बीच कोई अलकायदा मार्का साम्राज्यवाद-विरोध का स्वागत नहीं करता (वैसी हालत में तब ऐसे संगठनों को फूलने-फलने के लिये अनुकूल माहौल भी नहीं मिलता) विपर्यय से उपजी हताशा को यदि हम अपने ऊपर हावी होने दें और अपनी राजनीतिक विचारधारा को एक हद तक ढीला छोड़ें, तभी हम अलकायदा या अन्य धार्मिक प्रतिक्रियावादी संगठनों की कार्यवाहियों के प्रति आकर्षण महसूस कर सकते हैं।

कम्युनिस्ट आन्दोलन की ऐसी विचारधारात्मक कमजोरी को दूर करने के लिये कौमिंटर्न की दूसरी कांग्रेस ने औपनिवेशिक एवं राष्ट्रीय सवाल पर अपनी थीसिस के बिन्दु-11 में स्पष्ट निर्देश दिये हैं:

''यह जरूरी है कि वृहद-इस्लामी(pan-Islamic) या वृहद-एशियाई (Pan-Asiatic) आन्दोलनों व प्रवृत्तियों के खिलाफ संघर्ष किया जाये। यूरोपीय एवं अमरीकी साम्राज्यवाद के खिलाफ मुक्ति-संघर्ष को जापानी साम्राज्यवाद, तुर्क साम्राज्यवाद, बड़े जमींदारों, अभिजात वर्ग, पुरोहितों इत्यादि की ताकत को बढ़ाने वाली प्रवृत्तियों से मेल बैठाने की कोशिशें हैं।''

कौमिंटर्न का उक्त निर्देश वर्तमान स्थितियों के लिये पुराना नहीं हुआ है। यह आज भी मौजू है और हमारा मार्गदर्शक है।

उपसंहार

इक्कीसवीं सदी में राष्ट्रीय-प्रश्न पर इस आलेख में हमने यह स्थापित करने की कोशिश की है कि साम्राज्यवाद के वर्तमान युग के लिये राष्ट्रीय प्रश्न पर लेनिन की थीसिस मूलतः आज भी लागू होती है। हां, वर्तमान स्थिति में दो ऐसी विशेषताएं एवं कुछ ऐसी पेचीदगियां हैं जो कि

20वीं सदी की शुरूआत में नहीं थी। जो पेचीदगियां हैं वह व्यवहारिक धरातल पर समाधान की मांग करती हैं, लेकिन वे राष्ट्रीय प्रश्न के सैद्धान्तिक निरूपण में कोई परिवर्तन की मांग नहीं करती हैं। वर्तमान स्थिति की जो लाक्षणिक विशेषताएं (features) हमने इस लेख में इंगित की हैं, वे इस सदी में राष्ट्रीय उत्पीड़न के खिलाफ संघर्षों के चरित्र को बदल दे रही हैं, इसलिये इनकी रणनीतिक अहमियत पर गहन विचार-विमर्श की आवश्यकता है।

राष्ट्रीय प्रश्न के क्रांतिकारी समाधान से पिछड़े देशों का समस्त बुर्जुआ वर्ग पीछे हट चुका है, इसका कोई भी हिस्सा राष्ट्रीय प्रश्न के क्रांतिकारी समाधान के लिये होने वाले संघर्षों में शामिल नहीं होगा। इस वर्ग का कोई भी हिस्सा क्रांतिकारी राष्ट्रीय आन्दोलन का ढुलमुल मित्र भी नहीं है। दूसरी ओर पिछड़े देशों के वर्गीय संघटन में आये परिवर्तन के कारण, अब किसान, आबादी का बड़ा हिस्सा नहीं रहे। वे इन देशों की कामगार आबादी का अब अल्पमत ही बनते हैं। कुल कामगार आबादी में अल्पमत में आ गये किसान समुदाय का बहुलांश (छोटे व मझौले किसान) आज *'बुर्जुआ-पूंजीवादी सम्बन्धों' में जी रहे हैं और इनके द्वारा उत्पन्न संकट के कारण उनका बुर्जुआ व्यवस्था एवं उसके जनवाद से मोह भंग हो रहा है। इन कारणों से इन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलन के बुर्जुआ-जनवादी अंतर्य में परिवर्तन हो गया है। ये दोनों अहम् परिवर्तन, इन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलन को अब 'बुर्जुआ-जनवादी' नहीं रहने देते, ये उसे समाजवादी बना देते हैं।*

ऐसे में सहज प्रश्न यह उठता है कि तब क्या अब भी राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन विश्व सर्वहारा आन्दोलन का अभिन्न अंग ही बना रहेगा? यदि पिछड़े देशों के राष्ट्रीय चरित्र में यह गुणात्मक परिवर्तन आ चुका है, कि वह 'बुर्जुआ- जनवादी' से 'समाजवादी' हो चला है तब उक्त सूत्र को पुनः निरूपित कर लेने की जरूरत है। दुनिया की वर्तमान स्थिति में यही कहना उचित होगा कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन अब विश्व सर्वहारा क्रांति का अभिन्न अंग न रह कर उसमें समाहित हो गया है। वर्गीय लामबंदी के संदर्भ में इस बात का मतलब यह है कि आज जो वर्ग/तबके समाजवादी क्रांति के लिये लड़ेंगे, वे ही वर्ग/तबके साम्राज्यवाद के विरूद्ध भी लड़ेंगे, कि अब हमें साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों के लिये ऐसे किन्ही वर्गों/तबको का साथ नहीं मिलेगा जो समाजवाद के लिये लड़ने के लिये तैयार न हों, कि जो वर्ग/तबके समाजवाद की लड़ाई लडेंगे वे ही वर्ग/तबके देशों/राष्ट्रों के बीच जनवाद की स्थापना के लिये लड़ेंगे।

यदि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन अब विश्व सर्वहारा क्रांति में समाहित हो गया है, तब एक सवाल यह बनता है कि अब अलग से जनवाद की मांग करने का कोई औचित्य है, क्या समाजवाद की मांग करना पर्याप्त नहीं है?

हमारी राय है कि ऐसा संकुचन गलत होगा। साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्षों से समस्त पूंजीपति वर्ग के पलायन के बावजूद सर्वहारा को राष्ट्रीय आजादी की लड़ाई को आगे बढ़ाना होगा। समाजवाद के निर्माण के लिये देश को साम्राज्यवादी उत्पीड़न से मुक्त कराने की जरूरत है। राष्ट्रीय आजादी के लिये लड़ाई दबे-कुचले लोगों की जनवादी आकांक्षा है, वे राष्ट्रीय उत्पीड़न से मुक्ति चाहते हैं और राष्ट्रों के बीच पूर्ण बराबरी के रिश्ते चाहते हैं। वे हर अपमानजनक एवं गैर-बराबरीपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संधि और संस्था को ध्वस्त करने की मांग करते हैं। इन जनवादी मांगों की पूर्ति के लिये संघर्ष को आगे बढ़ाये बगैर समाजवाद की ओर कदम उठाना संभव नहीं है। इस मामले में लेनिन की ये बातें बेहद शिक्षाप्रद हैं : *''पाराबेलूम जो कुछ कहते हैं, उससे प्रतीत होता है कि समाजवादी क्रांति के नाम पर, वे जनवाद के क्षेत्र में एक सुसंगत क्रांतिकारी कार्यक्रम को तिरस्कारपूर्ण ढंग से रद्द करते हैं। ऐसा करते हुये वे गलत हैं। सर्वहारा केवल जनवाद के मार्फत ही विजयी हो सकता है,अर्थात् उसे जनवाद को पूरा विस्तार देने की जरूरत है और उसे हर कदम पर अपने संघर्ष को उन जनवादी मांगों के साथ जोड़ना होगा जिन्हें पूरी दृढ़ता के साथ सूत्रबद्ध किया गया हो। पूंजीवाद के खिलाफ संघर्ष और समाजवादी क्रांति को जनवाद की किसी एक समस्या **के बरक्स** खड़ा कर देना, जो कि इस मामले में राष्ट्रीय प्रश्न है, हास्यास्पद है। हमें पूंजी के खिलाफ अपने संघर्ष को **सभी** जनवादी मांगों(गणतंत्र,जनसेना,लोकप्रिय चुनाव द्वारा अधिकारियो की नियुक्ति,महिलाओं को बराबरी के अधिकार, राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार,इत्यादि) की प्राप्ति के किसी क्रांतिकारी कार्यक्रम व रणकौशल से जोड़ना चाहिये। जब तक पूंजीवाद है, ये मांगें - सारी की सारी - केवल अपवादस्वरूप ही हासिल की जा सकती हैं, और तब भी अपूर्ण एवं विकृत रूप में ही। अब तक, प्राप्त जनवाद पर अपने को आधारित करते हुए, पूंजीवाद के तहत इनकी अपूर्णता का भंडाफोड़*

*करते हुए, हम पूंजीवाद को उखाड़ फेंकने की मांग करते हैं, क्योंकि यह न केवल जनता की गरीबी के उन्मूलन के लिये आवश्यक आधार है बल्कि **सभी** जनवादी सुधारों की **चौतरफा** व **मुकम्मिल** पूर्ति के लिये भी। इनमें से कुछ सुधारों की शुरूआत पूंजीपति वर्ग को उखाड़ फेंकने के पहले ही, कुछ उखाड़ फेंकने के दौरान और कुछ उसके बाद हो पायेंगी। सामाजिक क्रांति महज एक ही लड़ाई नहीं है, यह अनेक जनवादी सुधारों के लिये अनेक आर्थिक समस्याओं के विरूद्ध कई लड़ाइयों को पूरा काल है,जो तभी पूरा हो पायेगा जब पूंजीपति वर्ग का सम्पत्तिहरण होगा। इस अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हमें **सभी** जनवादी मागों का सूत्रीकरण बिल्कुल सुसंगत क्रांतिकारी तरीके से करना चाहिये। इस बात की सम्भावना है कि किसी देश विशेष के मजदूर, कोई भी बुनियादी जनवादी सुधार **हासिल किये बगैर,** उस देश के पूंजीपति को उखाड़ फेंकें। परन्तु यह कल्पनातीत है कि एक ऐतिहासिक वर्ग के बतौर सर्वहारा, पूंजीपति वर्ग को हरा पायेगा यदि उसे इसके लिये तैयार करते समय सबसे सुसंगत एवं दृढ़ क्रांतिकारी जनवाद की भावना में शिक्षित न किया जाये।'' (The Revolutionary Proletariat and the Right of Nation's to Self Determination, Lenin, on National Liberation and Social Emancipation, Progress Publishers, page- 143-144)*

अन्त में, हम इस सवाल को उठायेंगे कि उपनिवेशवाद से मुक्ति के बाद, इस औपचारिक तौर पर राजनीतिक आजादी हासिल कर लेने के बाद, इस नव प्राप्त राजनीतिक-स्वाधीनता को सुदृढ़ कर लेने के बाद और इसे वास्तविक बना लेने के बाद अब 21वीं सदी में राष्ट्रीय-प्रश्न किस हद तक बचा हुआ है? इस लेख में हमने यही कहा है कि पिछली सदी के संघर्षों की बदौलत राष्ट्रीय-प्रश्न मूलतः हल हो चुका है। इस बात का साफ अभिप्राय है कि इसका मुकम्मिल समाधान नहीं हुआ है, कि इसका समाधान अंशतः बचा हुआ है। हमारे आन्दोलन के कुछ लोगों की समझ यह है कि जब तक साम्राज्यवाद पर आर्थिक पराश्रितता पूर्णतः समाप्त नहीं हो जाती तब तक यह सवाल अनसुलझा बना रहेगा। यानि कि वे राष्ट्रीय-प्रश्न में आर्थिक शोषण एवं पराश्रितता के मामलों को घसीट लाते हैं । इन साथियों से हमारा कहना है कि यह समझ गलत है। राष्ट्रीय प्रश्न राजनीतिक दायरे का प्रश्न है, इसका आर्थिक आजादी या आर्थिक गुलामी से कुछ लेना-देना नहीं है । जब भी राजनीतिक आजादी पूर्णतः हासिल कर ली जाती है, तब उसी मुकाम पर राष्ट्रीय-प्रश्न हल माना जायेगा चाहे आर्थिक आजादी हासिल हो पायी हो या नहीं। राष्ट्रीय प्रश्न में आर्थिक आजादी/पराश्रितता के घालमेल के विरोध में लेनिन ने बाकायदा एक लेख लिखा था। ''मार्क्सवाद का विकृत रूप तथा 'साम्राज्यवादी अर्थवाद' '' नामक इस लेख में इसी घालमेल का विरोध किया गया है।

राष्ट्रीय प्रश्न के लेनिनवादी सूत्रीकरण के अनुरूप हम यह कहते हैं कि उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद 21वीं सदी की आर्थिक नव-उपनिवेशवादी स्थितियों में तीसरी दुनिया के देशों ने वास्तविक राजनीतिक आजादी हासिल तो की है लेकिन यह राजनीतिक आजादी पूर्ण नहीं है, कि 21वीं सदी में भी साम्राज्यवाद एक हद तक इन देशों की राजनीतिक आजादी का संकुचन करता है। इस बात का मतलब निस्संदेह ही यह निकाला जाना चहिये कि आर्थिक शोषण व आर्थिक लूट की स्थितियों के बने रहते यदि इन देशों का राजनीतिक उत्पीड़न समाप्त हो जाये तो यह इन देशों के लिये राष्ट्रीय प्रश्न हल हो जायेगा।

तीसरी दुनिया के देशों का राजनीतिक उत्पीड़न आज भी जारी है हालांकि पहले (उपनिवेशवादी दौर) की तुलना में इसके स्तर में गुणात्मक गिरावट आयी है। आज इस (घटे हुए) राजनीतिक उत्पीड़न के लिये साम्राज्यवाद के मुख्य औजार हैं - साम्राज्यवादी देशों की राजसत्ताएं एवं उनकी प्रभुत्वकारी विदेश नीतियां, साम्राज्यवादी देशों के साझे राजनीतिक एवं सैनिक गठबंधन मसलन अंजुस या नाटो; समस्त दुनिया के देशों के साझे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक संगठनों के सांगठनिक ढांचे में गैर बराबरी मसलन संयुक्त राष्ट्र संघ के ढांचे में सुरक्षा परिषद जैसा निकाय एवं उसमें साम्राज्यवादी देशों को मिलने वाले अन्य विशेषाधिकार; तीसरी दुनिया की सीमाओं के भीतर या सीमाओं के समीप साम्राज्यवादी-सैनिक मौजूदगी मसलन भारत

के करीब डियागो गार्सिया,पाकिस्तान,अफगानिस्तान में अमेरिकी सेना की मौजूदगी; तीसरी दुनिया के देशों की सरकारों को कम या ज्यादा मात्रा में साम्राज्यवादियों द्वारा दिया जाने वाला राजनीतिक आज्ञापन (political dictation); तीसरी दुनिया के देशों को कूटनीतिक अलगाव में डालना सीधे ही इनकी नाकेबंदी करना, इन देशों के साथ साम्राज्यवादियों द्वारा की गयी असमान एवं अपमानजनक संधियां इत्यादि। राजनीतिक उत्पीड़न के ऐसे औजारों द्वारा साम्राज्यवादी, आज के जमाने में पूरी दुनिया पर अपना प्रभुत्व जमाते हैं। जब तक राज्यों के बीच अन्तर्सम्बन्धों (Inter State Relations) का यह समस्त ढांचा नष्ट नहीं कर दिया जाता, तब तक तीसरी दुनिया के देशों की राजनीतिक आजादी अपूर्ण ही बनी रहेगी और राष्ट्रीय प्रश्न का समाधान बचा रहेगा।

□ □ □